183

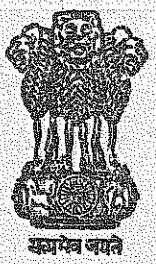

भारत का विधि आयोग

साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 के अनुक्रम में— कानूनों के निर्वचन में बाह्य सहायताओं की ग्राह्यता और संहिताकरण के प्रति विशेष निर्देश पर एक सांतत्यक

पर

एक सौ तिरासीवीं रिपोर्ट

सितम्बर, 2002

न्यायमूर्ति
एम. जगन्नाथ राव,
अध्यक्ष

सत्यमेव जयते

भारत का विधि आयोग
शास्त्री भवन,
नई दिल्ली- 110001
दूरभाष : 3384475
निवास :
1, जनपथ,
नई दिल्ली-110011
दूरभाष : 3019465

अर्ध.शा.सं. 6(3)(79)/2002-एल.सी.(एल एस)

8 नवम्बर, 2002

प्रिय श्री जनाकृष्णमूर्ति जी,

मैं इस पत्र के साथ "साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 के अनुक्रम में— कानूनों के निर्वचन में बाह्य सहायताओं की ग्राह्यता और संहिताकरण के प्रति विशेष निर्देश पर एक सांतत्यक" पर 183वीं रिपोर्ट भेज रहा हूं।

2. यह विषय, साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 पर आयोग की 60वीं रिपोर्ट, जो 1974 में भारत सरकार को प्रस्तुत की गई थी, की जांच करने हेतु भारत सरकार के विधि, न्याय और कंपनी कार्य मंत्रालय के विधायी विभाग के दिनांक 28-1-2002 के पत्र के निर्देश के अनुसरण में अध्ययन के लिए लिया गया था। इस निर्देश में आयोग से, किसी विधि के अर्थान्वयन और निर्वचन के लिए क्या बाहरी सहायता ग्राह्य होनी चाहिए और यदि इसका उत्तर सकारात्मक हो तो क्या बाहरी सहायता के लिए नियम साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 में संहिताबद्ध और समाविष्ट किए जाने चाहिए, विषय पर उसके विचार मांगे गए थे। इसके साथ-साथ निर्देश में यह भी उल्लेख किया गया था कि बाहरी सहायता के विषय में न्यायिक विनिर्णयों में विरोधाभास है और हमारे न्यायालय विधि के अर्थान्वयन के सिद्धांतों के लिए, विशेषतया बाहरी सहायता के संबंध में एक समान दृष्टिकोण का अनुपालन नहीं कर रहे हैं। निर्देश में एक यह भी अन्य प्रश्न उठाया गया कि आयोग की 60वीं रिपोर्ट प्रस्तुत किए जाने के पश्चात् बहुत सी नई विधियां प्रवर्तन में आई हैं और बाहरी सहायता के प्रयोग के विषय में निर्वचन के कतिपय मानदंडों में परिवर्तन हुए हैं, तब क्या इससे यह आलोचना का विषय नहीं बनेगा कि इतने लम्बे अन्तराल के कारण उक्त रिपोर्ट सुसंगत नहीं रही है। आयोग ने उक्त निर्देश से उत्पन्न हुए निम्नलिखित मुख्य विषयों का अध्ययन किया है:—

(क) क्या साधारण खंड अधिनियम, 1897 में, जहां तक निर्वचन के लिए बाहरी सहायता का संबंध है, विधि के निर्वचन के सिद्धांतों का भी उल्लेख किया जाना चाहिए;

(ख) क्या 60वीं रिपोर्ट में की गईं सिफारिशों के पुनरीक्षण की आवश्यकता है और क्या अब वे संगत नहीं रही हैं।

3. आयोग ने अपनी सुविचारित सिफारिशें इस रिपोर्ट में दी हैं।

सादर,

भवदीय,

ह./-

(न्यायमूर्ति एम. जगन्नाथ राव)

श्री जनाकृष्णमूर्ति,
माननीय विधि और न्याय मंत्री,
शास्त्री भवन,
नई दिल्ली।

विषय-सूची

क्रमांक		पृष्ठ
	साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 के अनुक्रम में—कानूनों के निर्वचन में बाह्य सहायताओं की ग्राह्यता और संहिताकरण के प्रति विशेष निर्देश पर एक सांतत्यक	1—19

साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 के अनुक्रम में—कानूनों के निर्वचन में बाह्य सहायताओं की ग्राहयता और संहिताकरण के प्रति विशेष निर्देश पर एक सांतत्यक

विधि आयोग को, साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 पर आयोग की 60वीं रिपोर्ट, जो वर्ष 1974 में भारत सरकार को प्रस्तुत की गई थी, का अध्ययन करने के लिए भारत सरकार के विधि, न्याय और कंपनी कार्य मंत्रालय के विधायी विभाग से दिनांक 28-1-2002 को एक निर्देश प्राप्त हुआ था। इस निर्देश में आयोग से विशेषतया इस विषय पर उसके विचार मांगे गए हैं कि क्या किसी विधि के अर्थान्वयन या निर्वचन में बाहरी सहायता स्वीकार्य होनी चाहिए और यदि ऐसा हो, तो क्या बाहरी सहायता के लिए नियम संहिताबद्ध और साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 में समाविष्ट किए जाने चाहिए। निर्देश में यह भी कहा गया है कि विदेशी सहायता की ग्राह्यता के बारे में न्यायिक विनिर्णयों में विरोधाभास है और हमारे न्यायालय विधिक अर्थान्वयन के सिद्धांतों के लिए, विशेषकर बाहरी सहायता के संबंध में, एक समान दृष्टिकोण का अनुपालन नहीं कर रहें हैं। इस दृष्टिकोण के समर्थन में उच्चतम न्यायालय के कतिपय निर्णय उद्धृत किए गए हैं। इनमें से कुछ निर्णयों के बारे हम इस रिपोर्ट में चर्चा करेंगे।

निर्देश में यह भी कहा गया है कि 60वीं रिपोर्ट वर्ष 1974 में प्रस्तुत की गई थी और तब से अब तक बहुत-सी नई विधियां प्रवर्तन में आ चुकी हैं और बाहरी सहायता के प्रयोग के बारे में निर्वचन के कतिपय मानदंड में भी परिवर्तन हो गए हैं। इसके अतिरिक्त, यदि विधि आयोग की 60वीं रिपोर्ट अब तक कार्यान्वित हो जाती है तो यह आलोचना होगी कि दीर्घकालिक अन्तराल के कारण उक्त रिपोर्ट की उपयोगिता समाप्त हो गई है। तथापि, हम यह उल्लेख करना चाहेंगे कि 60वीं रिपोर्ट में बाहरी सहायता के प्रश्न पर अध्याय दो में विचार किया गया है।

उपर्युक्त निर्देश के संगत पैराओं को यहां उद्धृत करना उपयुक्त होगा। ये निम्नलिखित हैं :—

> "विधियों के उपबंधों के अर्थान्वयन में बाहरी सहायता की ग्राह्यता के बारे में विरोध चलता आ रहा है। किसी विधि का अर्थ निकालने हेतु बाहरी सहायता के विषय में संसदीय वाद-विवाद, संसदीय समितियों, आयोगों की रिपोर्ट, उद्देश्यों और कारणों का कथन, खंडों विषयक टिप्पण, कोई अन्तर्राष्ट्रीय संधि या अन्तर्राष्ट्रीय करार, जिसका विधि में उल्लेख किया गया है, विधि की विषय वस्तु से सुसम्बद्ध कोई अन्य दस्तावेज आदि सम्मलित है ....."
>
> "यह भी महसूस किया गया है कि हमारे न्यायालय सांविधिक अर्थान्वयन के सिद्धांतों के प्रति, विशेषकर बाहरी सहायता के बारे में, एक समान दृष्टिकोण का अनुसरण नहीं कर रहें हैं ..."
>
> "साथ ही हमारे न्यायालय अपने उच्चतम न्यायालय के निर्णयों की अपेक्षा शास्त्र वाक्यों, विदेशी न्यायालयों के निर्णयों का निर्देश कर रहे हैं। इन परिस्थितियों में, इस विषय पर विचार किए जाने की आवश्यकता है कि क्या कोई ऐसा स्वतंत्र विधान या उपबंध होना चाहिए जो साधारण खंड अधिनियम का अंग हो और जिनमें स्पष्ट रूप से यह प्रावधान हो कि किसी विधि के अर्थान्वयन के लिए बाहरी सहायता या अन्य किसी प्रकार की सहायता स्वीकार्य हो सकेगी।"
>
> "इसके अतिरिक्त, विधि आयोग की रिपोर्ट 1959 में किए गए निर्देश पर वर्ष 1974 में प्रस्तुत हुई थी। तब से अब तक बहुत-सी नई विधियां कार्यान्वित हुई हैं जिनसे सूचना और प्रौद्योगिकी जैसे विषय सामने आए हैं जिनको ध्यान में रखते हुए साक्ष्य अधिनियम जैसी विधियों में भी संशोधन किए गए हैं। इसके अतिरिक्त, संसदीय वाद-विवाद, प्रारम्भिक कार्यों, भारत के विधि आयोग की रिपोर्टों और संसदीय रिपोर्टों के बाहरी सहायता के प्रयोग के बारे में निर्वचन के नियमों में परिवर्तन हुए हैं। यह भी महसूस किया गया है कि विधि आयोग की 60वीं रिपोर्ट (1974) को यदि अब कार्यान्वित किया जाता है तो यह आलोचना होगी कि इतने लम्बे अन्तराल के कारण रिपोर्ट की उपयोगिता समाप्त हो गई है।"

"उपर्युक्त को ध्यान में रखते हुए, विधि आयोग से उनकी 60वीं रिपोर्ट की पुन: समीक्षा करने और यह पूछने के लिए अनुरोध करना उपयुक्त समझा गया कि क्या इस स्तर पर साधारण खण्ड अधिनियम में विधियों या उक्त रिपोर्ट, जैसी कि इस समय है, निर्वचन के सिद्धांत भी अन्तर्विष्ट किए जाने चाहिएं और उनसे अभिप्राय प्राप्त हो सकेगा अथवा उक्त रिपोर्ट को अन्यथा पुनरीक्षित किया जाना चाहिए। आयोग, तदनुसार पुनरीक्षण कर सकेगा कि क्या पहले की रिपोर्ट में किसी संशोधन की आवश्यकता है और यदि ऐसा है तो आयोग द्वारा और सुझाव/सिफारिशें दी जा सकेंगी।"

यहां यह उल्लेख किया जा सकता है कि विधि आयोग ने 60वीं रिपोर्ट के अध्याय दो में विधियों के निर्वचन के लिए एक विस्तृत संहिता रखने की व्यवहार्यता पर विचार किया था जिसे साधारण खण्ड अधिनियम में अन्त:स्थापित किया जा सके परन्तु इसे विभिन्न आधारों पर अव्यवहार्य पाया गया। तथापि, उक्त रिपोर्ट में आयोग ने साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 में कतिपय संशोधनों की सिफारिश की थी और एक प्रारूप संशोधन विधेयक उक्त रिपोर्ट के साथ संलग्न किया गया था।

इन निर्देश पदों का अध्ययन करते हुए निम्नलिखित प्रश्न सामने आते हैं जिन पर विचार किए जाने की आवश्यकता है :—

(क) क्या साधारण खण्ड अधिनियम में निर्वचन के लिए बाहरी सहायता के बारे में विधि के निर्वचन के सिद्धान्तों का भी उपबंध किया जाना चाहिए;

(ख) क्या उपर्युक्त 60वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिशों के पुनरीक्षण की कोई आवश्यकता है अथवा उनकी उपयोगिता अब समाप्त हो गई है।

उपर्युक्त (क) के संबंध में :

कोई भी विधि पाठ के रूप में विधानमंडल की इच्छा का प्रतीक है। किसी विधि का निर्वचन या अर्थान्वयन अत्यन्त प्राचीन, इतना प्राचीन कि जितनी की भाषा है, प्रक्रिया है। निर्वचन के व्यापक नियम हिन्दू सभ्यता और संस्कृति के प्रारंभिक चरण में ही विकसित हुए थे। 'मीमांसा सूत्र' के लेखक जैमिनी के नियम मूलत: श्रुतियों के लिए थे परन्तु स्मृतियों के निर्वचन के लिए भी अपनाए गए। (भारत का विधि आयोग, 60वीं रिपोर्ट, अध्याय-दो, पैरा 2.2) यह विधि का सुनिर्धारित सिद्धान्त है कि क्योंकि विधि विधानमंडल की आज्ञा होती है इसलिए, किसी विधि के निर्वचन अथवा अर्थान्वयन के लिए पारम्परिक रीति से विधानमंडल का आशय जानने की रही है। विधानमंडल के आशय में दो पहलू समाविष्ट हैं, पहला पहलू 'अर्थ' की अवधारणा से संबंधित है अर्थात् शब्दों का अर्थ क्या है और दूसरा पहलू विधि में व्याप्त 'अभिप्राय' और 'उद्देश्य' या 'कारण' या 'भावना' से संबंधित है। इसलिए, अर्थान्वयन की प्रक्रिया 'शब्द' तथा 'उद्देश्य' दोनों दृष्टिकोणों को साथ लेकर चलती है। तथापि, निर्वचन की आवश्यकता केवल तभी होगी जहां सांविधिक उपबंध की भाषा संदिग्धार्थ है, स्पष्ट नहीं है या जहां दो अर्थ संभव हों या जहां उपबंध, विधि के उद्देश्य को पराजित करने वाला भिन्न अर्थ देता हो। यदि भाषा स्पष्ट और असंदिग्धार्थक है तब निर्वचन की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इस संबंध में उच्चतम न्यायालय के पांच न्यायाधीशों की एक संविधान पीठ ने *आर.एस. नायक* बनाम *ए.आर. अन्तुले*, ए.आई.आर. 1984 सु.को. 684 मामले में अभिनिर्धारित किया है :

"यदि विधि की शब्दावली स्पष्ट और असंदिग्धार्थ है तब उपबंध में प्रयुक्त शब्दावली के प्राकृतिक अर्थ को प्रभावी मानना न्यायालय का स्पष्ट कर्त्तव्य हो जाता है। अर्थान्वयन का प्रश्न केवल तभी उठता है जब शब्दावली संदिग्धार्थक हो या जहां विधि में प्रयुक्त शब्दावली का प्राकृतिक अर्थ स्वयं में विफलकारी हो।" (पैरा 18)

हाल ही में उच्चतम न्यायालय ने फिर से **ग्रेशिम इन्डस्ट्रीज लिमिटेड** बनाम **कलक्टर ऑफ कस्टमस् बम्बई** (2002) 4 एस.सी.सी. 297 मामले में इसी सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए टिप्पणी की है :—

"जहां शब्दावली स्पष्ट है और कोई अस्पष्टता नहीं है और कोई संदिग्धार्थ नहीं है तथा विधानमंडल का आशय स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है, तब न्यायालय के लिए सांविधिक उपबंधों को संशोधित करने या बदलने का कार्य करने की कोई गुंजाइश नहीं है।" (पैरा 10)

अर्थान्वयन अथवा निर्वचन के प्रयोजन से, न्यायालय के स्पष्टत: विभिन्न आन्तरिक तथा बाहरी सहायताओं का सहारा लेना पड़ता है। आन्तरिक सहायता से वे सामग्रियां अभिप्रेत हैं जो स्वयं विधि में ही उपबंधित होती हैं, यद्यपि ये अधिनियमिति का अंग नहीं होती हैं। इन आन्तरिक सहायताओं में विधेयक का संक्षिप्त नाम, प्रस्तावना, शीर्षक, हाशिए में दिए गए टिप्पण, उद्धरण, विराम चिन्हों आदि का प्रयोग, परन्तुक, अनुसूची, अस्थायी उपबंध आदि सम्मिलित हैं। जब आन्तरिक सहायता पर्याप्त नहीं होती तब न्यायालय को बाहरी सहायता का अवलम्ब लेना पड़ता है। इसमें संसदीय सामग्री, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, किसी समिति या आयोग की रिपोर्ट, सरकारी विवरण, शब्दकोश के अर्थ, विदेशी निर्णय आदि सम्मिलित हैं।

उच्चतम न्यायालय ने विधिक उपबंधों के निर्वचन के लिए बाहरी सहायता की आवश्यकता को स्वीकार कर लिया है। न्यायमूर्ति ओ. चेन्नप्पा रेड्डी ने **बी. प्रभाकर राव तथा अन्य** बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य तथा अन्य :** ए.आई.आर. 1986 सु.को. 120 मामले में यह टिप्पणी की है :—

"जहां आन्तरिक सहायता उपलब्ध नहीं हो पा रही है, हम विधान का उद्देश्य जानने के लिए बाहरी सहायता का सहारा ले सकते हैं। बाहरी सहायताओं पर कोई प्रतिबंध नहीं है। अब यह आधुनिक विधिक अर्थान्वयन का सुनिर्धारित सिद्धान्त है।" (पैरा 7)

हाल ही में **जिला खनन अधिकारी तथा अन्य** बनाम **टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी तथा अन्य** (2001) 7 एस. सी. सी. 358 मामले में उच्चतम न्यायालय ने टिप्पणी की है :—

"अर्थान्वयन का एक मुख्य सिद्धान्त यह भी है कि बाहरी सहायता न केवल उसी विधि के अन्य अधिनियमनकारी उपबंधों को अपितु उसकी प्रस्तावना, विधि की वर्तमान स्थिति, अन्य समान विधियों तथा विधि जिस अनिष्ट का परिहार करने के लिए आशयित है, सम्मिलित करके अवधारण तथा संदर्भ का विस्तार करके उपलब्ध कराई जाए।" (पैरा 18)

जहां इन बाहरी सहायताओं की ग्राह्यता तथा उपयोगिता का संबंध है, इस विषय में हमारे देश में अब सुस्थापित विधि उपलब्ध है। उच्चतम न्यायालय ने **के.पी. वरघीस** बनाम **आयकर अधिकारी अरनाकुलम,** ए.आर.आई. 1981 सु.को. 1922 मामले में कहा है कि विधि का निर्वचन क्योंकि अर्थ सुनिश्चित करने का प्रयास है, इसलिए प्रत्येक तर्कसंगत चीज ग्राह्य होनी चाहिए।

कतिपय ज्ञात बाहरी सहायताएं, जो सांविधिक उपबंधों के निर्वचन में ग्राह्य हैं, निम्नलिखित हैं :—

(1) संसदीय सामग्री

(क) वाद-विवाद

न्यायालय बहुधा संविधान सभा में हुए वाद-विवादों, विधेयक प्रस्तुतकर्ताओं के भाषणों, समितियों तथा आयोगों की रिपोर्टों, विधेयक के उद्देश्यों और कारणों का विवरण आदि का आश्रय लेते हैं। परम्परागत, इंग्लिश विचारधारा के अनुसार ये संसदीय सामग्री 'अपवर्जनकारी नियम' के आधार पर बाहरी सहायता के रूप में ग्राह्य नहीं थी। यह 'अपवर्जनकारी नियम' धीरे-धीरे त्याग दिया गया और अन्ततः **पेप्पर** बनाम **वी. हार्ट** (1993). ए.एल.एल. ई.आर. 42(एच एल) मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि संसदीय सामग्री या हैमसार्ड निम्नलिखित परिस्थितियों में संसदीय विशेषाधिकार के अध्यधीन किसी विधि के निर्वचन के लिए बाहरी सहायता के रूप में ग्राह्य हो सकते हैं, जहां (क) कोई विधान संदिग्धार्थक या अस्पष्ट है या जिसका अर्थ मूर्खतापूर्ण निष्कर्ष की ओर ले जाता है; (ख) जिस सामग्री पर निर्भरता है उसमें मंत्री या अन्य किसी विधेयक प्रस्तुतकर्ता के एक या अधिक विवरण समाविष्ट हों साथ ही यदि आवश्यक हो, तो ऐसी अन्य संसदीय सामग्री जो इन विवरणों को तथा इनके प्रभाव को समझने के लिए आवश्यक हों; और (ग) निर्भरता वाले विवरण स्पष्ट हों।

भारतीय न्यायालयों ने अपने आरंभिक चरण में इंग्लैण्ड में प्रचलित 'अपवर्जनकारी नियम' का अनुसरण किया और कानूनी तथा संवैधानिक उपबंधों के निर्वचन के लिए संसदीय सामग्री या संविधान सभा के वाद-विवादों को स्वीकार करने से

इंकार किया था। (देखें **स्टेट ऑफ ट्रावनकोर-कोचीन तथा अन्य** बनाम **बम्बई कम्पनी लिमिटेड,** ए.आई.आर. 1952 सु.को. 366; **अश्वनी कुमार घोष तथा अन्य** बनाम **अरविन्द बोस तथा अन्य,** ए.आई.आर. 1952 सु.को. 369)। तथापि, बाद के मामलों में उच्चतम न्यायालय ने इस 'अपवर्जनकारी नियम' को इंग्लैण्ड के **पेप्पर** मामले में निर्धारित की गई विधि से काफी पहले ही थोड़ा उदार बना दिया था। **स्टेट ऑफ मैसूर** बनाम **आर.वी. बिदप :** ए.आई.आर. 1973 सु.को. 2555 मामले में न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर ने सांविधिक अर्थान्वयन पर क्रोफोर्ड से (पृष्ठ 383) कुछ पंक्तियां उद्धृत की जिनमें 'अपवर्जनकारी नियम' की आलोचना की गई थी। संगत उद्धरण निम्नलिखित है :—

> "अपवर्जनकारी नियम' को न्यायविदों ने कृत्रिम बताकर उसकी आलोचना की है। योरोपीय प्रणाली में शास्त्रीय विचार और व्यवहार का यह सुझाव है कि क्योंकि विधिक निर्वचन अर्थ निश्चित करने की प्रक्रिया है, इसलिए, प्रत्येक तर्क संगत चीज ग्राह्य होनी चाहिए।"

न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने एक मामले में टिप्पणी की है :—

> "ब्रिटिश न्यायालयों द्वारा अनुसरण किए जा रहे 'अपवर्जनकारी नियम' की उपेक्षा करने तथा किसी विधिक शब्दावली का अर्थ जानने के लिए विधायी कार्यवाहियों तथा इसी प्रकार की अन्य सामग्री के निर्देश के लिए क्षमा-याचनाहीन सूचक शब्दों का प्रयोग न करने का एक ठोस मामला है।" (पैरा 5)

इस संबंध में न्यायमूर्ति भगवती ने **फगु शाह आदि** बनाम **पश्चिम बंगाल राज्य,** ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 613 मामले में कहा है कि :—

> "क्योंकि निर्वचन का उद्देश्य संवैधानिक उपबंध का वास्तविक अर्थ जानना है, यह स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया में जो भी तार्किक रूप से संगत है उस पर विचार करना वर्जित नहीं होना चाहिए। एक समय यह सोचा गया था कि संविधान प्रारूपण के समय वाद-विवाद के दौरान संविधान सभा के सदस्यों द्वारा दिए गए भाषण संवैधानिक उपबंधों के निर्वचन के लिए बाहरी सहायता के रूप में पूर्णतया अग्राह्य होंगे, परन्तु विगत में इस स्थिति में बदलाव आया है और कतिपय पश्चिमी देशों और अमेरीका में न्यायिक विचारधारा की वर्तमान पद्धतियों में आंग्ल-अमेरीकी न्यायशास्त्र में कठोरता से अनुपालन किए जाने वाले अपजर्वक नियम को पर्याप्त रूप में समाप्त कर दिया गया है....."
>
> अत: हम न्यायोचित रूप से यह ज्ञात करने के लिए संविधान सभा के वाद-विवाद का निर्देश कर सकेंगे कि संविधान निर्माताओं का उद्देश्य क्या था और खण्ड (4) तथा (7) अपने वर्तमान स्वरूप में अधिनियमित करके वे किस उद्देश्य की प्राप्ति करना चाहते थे।" (पैरा 45)

इसके पश्चात् **आर.एस. नायक** बनाम **ए.आर. अंतुले** (उपर्युक्त) मामले में उच्चतम न्यायालय ने इस संबंध में टिप्पणी की है :—

> "इसलिए इस बात को निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बाहरी नियम उसके जनक देश में ही अंन्तिम रूप में धूलमूल हो रहा है और उसे इस न्यायालय द्वारा अच्छी तरह से समाप्त कर दिया गया है।" (पैरा 34)

उच्चतम न्यायालय ने अनेकों मामलों में संवैधानिक उपबंधों के निर्वचन के लिए संविधान सभा के वाद-विवादों का निर्देश किया है। उच्चतम न्यायलय ने, हाल ही में, **एस.आर. चौधरी** बनाम **पंजाब राज्य तथा अन्य** (2002) 7 एस.सी.सी. 126 मामले में कहा है कि यह निर्धारित स्थिति है कि संविधान सभा के वाद-विवादों को किसी संवैधानिक उपबंध के निर्वचन के लिए सहायता के रूप में प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि संविधान निर्माताओं का आशय जानना न्यायालय का कर्त्तव्य हो जाता है। (पैरा 33)

परन्तु जहां तक संसद में दिए जाने वाले भाषणों का संबंध है, विधेयक प्रस्तुतकर्ता के भाषणों तथा अन्य सदस्यों के भाषणों के बीच अन्तर किया जाता है। जहां तक विधेयक पर विचार करते समय संसद के सदस्यों द्वारा दिए जाने वाले भाषणों

का संबंध है, यह अभिनिर्धारित किया गया है कि वे कानूनी उपबंधों के निर्वचन के लिए बाहरी सहायता के रूप में ग्राह्य नहीं होंगे। (देखें—**के.एस. परिपूरन** बनाम **स्टेट ऑफ केरल तथा अन्य,** ए.आई. आर. 1995 सु.को. 1012)। तथापि, विधेयक प्रस्तुतकर्ता तथा मंत्री द्वारा दिए गए भाषणों का विधेयक से प्राप्त किए जाने वाले आशय का पता लगाने के लिए निर्देश किया जा सकेगा [देखें—**के.एस. परिपूरण** मामला (उपर्युक्त)]। न्यायमूर्ति जे.एस. वर्मा ने (जैसाकि वे उस समय पदासीन थे) **डा. आर.वाई. प्रभु** बनाम **पी.के. कुन्टे** (1995)7 स्केल मामले में जनप्रतिनिधि अधिनियम, 1951 की धारा 123 की उपधारा में प्रयुक्त शब्द 'उसके' का अर्थ जानने के लिए तत्कालीन विधि मंत्री ए.के सेन के भाषण का विस्तार से निर्देश किया है। इसी प्रकार, उच्चतम न्यायालय ने **पेप्पर** बनाम **हार्ट** (उपर्युक्त) मामले में व्यक्त किए गए विचारों से सहमति प्रकट करते हुए, **पी.वी. नरसिम्हाराव** बनाम **राज्य,** ए.आई.आर. 1998 सु.को. 2120 मामले में निम्नलिखित टिप्पणी की है :—

> "इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि इस न्यायालय के निर्णय के अनुसार उप मंत्री के व्यक्तव्य को, जिसने संसद में विधेयक प्रस्तुत किया हो, उस उपकार के बारे में निश्चित जानकारी प्राप्त करने के लिए विधान द्वारा जिसका निवारण करने का प्रयास किया गया है और विधेयक का उद्देश्य और कारण जानने के लिए, देखा जा सकेगा। जिस मंत्री ने संसद में विधेयक प्रस्तुत किया है उसके व्यक्तव्य को अधिनियमिति के उपबंधों के निर्वचन के प्रयोजन से ध्यान में नहीं रखा जाएगा।" (पैरा 77)

उच्चतम न्यायालय ने **सुशीला रानी** बनाम **सी.आई.टी तथा अन्य** (2002) 2 एस.सी.सी. 697 मामले में 'कार विवाद समाधान स्कीम 1998' का उद्देश्य जानने के प्रयोजन से मंत्री के व्यक्तव्य का निर्देश किया।

(ख) उद्देश्य और कारणों का विवरण

जहां तक किसी विधायी विधेयक के साथ संलग्न उद्देश्यों और कारणों के विवरण का संबंध है, पृष्ठभूमि, पूर्वकालिक स्थिति, विधि से संबंधित व्याप्त परिस्थितियों तथा वह अपकार जिसका निवारण करने का प्रयास किया गया है, जानने के लिए उसका निर्देश करने की अनुमति है। इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता [**(देवादौस (मृतक) एल.आर.एस. द्वारा** बनाम **वीरा मकाली अम्मान कोयल अथालूर,** ए.आई.आर. 1998 सु.को. 750]

(ग) संसदीय समितियों तथा आयोगों की रिपोर्ट

विधेयक के पुर:स्थापित से पूर्व, विधि आयोग सहित आयोगों की और संसदीय समितियों सहित समितियों की रिपोर्टों को न्यायालय में ऐतिहासिक तथ्यों या व्याप्त परिस्थितियों या निवारण के लिए आशयित किसी अपकार या बुराई के साक्ष्य के रूप में निर्देशित किया जा सकता है। न्यायालय, स्पष्टत:, अधिनियम के निर्वचन के लिए बाहरी सहायता के रूप में इन सामग्रियों का उपयोग कर सकते हैं। यद्यपि, उच्चतम न्यायालय ने **सी.आई.टी.ए.पी.** बनाम **जयलक्ष्मी राइस एण्ड आयल मिल्स कन्ट्रेक्टर कम्पनी,** ए.आई.आर. 1971 सु.को. 1015 मामले में भागीदारी अधिनियम, 1932 के उपबंधों का अर्थ निकालने के लिए भागीदारी विधेयक के उपबंधों की जांच करने हेतु भारत सरकार द्वारा नियुक्त की गई विशेष रिपोर्ट का आश्रय लिए जाने से इन्कार कर दिया था परन्तु **हल्दीराम भुजियावाला तथा अन्य** बनाम **आनन्द कुमार दीपक कुमार तथा अन्य** (2003)3 एस.सी.सी. 250 मामले में उच्चतम न्यायालय ने ही भागीदारी अधिनियम, 1932 की धारा 69 के उपबंधों का अर्थ निकालने के लिए विशेष (1930-31) की उसी रिपोर्ट का आश्रय लिया। उपर्युक्त मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उपर्युक्त **सी.आई.टी.ए.पी.** बनाम **जयलक्ष्मी राइस एण्ड आयल मिल्स कन्ट्रेक्टर कम्पनी** मामले में किया गया निर्णय अब मान्य विधि नहीं रह गई है। जहां कोई विशिष्ट अधिनियमिति या कोई संशोधन विधि आयोग की रिपोर्ट में की गई सिफारिशों के परिणामस्वरूप किया गया है वहां विधि आयोग की रिपोर्टों को निर्देशित किया जा सकता है (देखें—**मिथिलेश कुमारी** बनाम **प्रेम बिहारी खेर,** ए.आई.आर. 1989 सु.को. 1247)। इसी प्रकार उच्चतम न्यायालय ने **रोज्ली तथा अन्य** बनाम **स्टेट आफ केरल तथा अन्य** (2000)2 एस.सी.सी. 230 मामले में दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 200(2) के निर्वचन के लिए भारत के विधि आयोग की 41वीं रिपोर्ट का आश्रय लिया।

उपर्युक्त चर्चा यह दर्शाती है कि समितियों तथा आयोग की रिपोर्टें सहित संसदीय सामग्री कानूनी उपबंधों के निर्वचन के लिए बाहरी सहायता के रूप में ग्राह्य हैं।

(2) अन्य विधियों के निर्देश

एक यह निर्धारित सिद्धांत है कि न्यायालय किसी कानूनी उपबंध के निर्वचन या अर्थान्वयन के प्रयोजन से अन्य विधियों का निर्देश कर सकते हैं या उनकी सहायता ले सकते हैं। साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 विधिक सहायता का एक उदाहरण है। इसके अतिरिक्त, न्यायालय अन्य कानूनों का, जिनकी विषय-वस्तु समान है, अर्थात् जो उसी विषय से संबंधित हैं या उसी प्रणाली का अंग हैं, आश्रय ले सकते हैं। उच्चतम न्यायालय ने **कॉमन कॉज, ए रजिस्टर्ड सोसाइटी** बनाम **भारत संघ,** ए.आई.आर. 1996 सु.को. 3081 मामले में जनप्रतिनिधि अधिनियम, 1951 की धारा 77(1) के स्पष्टीकरण-1 के निर्वचन के प्रयोजन से आयकर अधिनियम, 1961 की धारा 13क और 139 (4ख) का आश्रय लिया।

अर्थान्वयन के इस नियम को लागू करने के विषय से संबंधित विभिन्न विधियों को किसी प्रकार के विरोध से बचने का लाभ प्राप्त हो सकेगा। इससे किसी पूर्वतर विधि में प्रयुक्त शब्दावली उसी संदर्भ में बाद की किसी विधि में प्रयुक्त ऐसी ही शब्दावली का अर्थ प्रकाश में आ सकेगा। इसी तर्क के आधार पर जब किसी पूर्वतर विधि के शब्दों को किसी उच्चतर न्यायालय द्वारा प्राधिकृत व्याख्या प्राप्त हो चुकी हो तब बाद की किसी विधि में उस संदर्भ में ऐसे शब्दों के प्रयोग से यह उपधारणा बनेगी कि विधानमंडल का यह आशय है कि बाद की विधि में उन शब्दों के अर्थान्वयन के लिए उसी निर्वचन का अनुसरण किया जाना चाहिए। (देखें—**बंगाल इम्युनीटी कम्पनी लिमिटेड** बनाम **स्टेट आफ बिहार** : ए.आई.आर. 1955 सु.को. 661)। तथापि, कोई पश्चात्वर्ती विधि सामान्यतया किसी पूर्वतर विधि के अर्थान्वयन के लिए सहायता के रूप में प्रयोग नहीं की जाती है, परन्तु जब कोई पूर्वतर विधि संदिग्धार्थक हो, तब बाद की कोई विधि कतिपय परिस्थितियों में पूर्वतर विधि की संसदीय व्याख्या समझी जाएगी।

(3) प्रयोग तथा व्यवहार

किसी विधि के अधीन विकसित प्रयोग तथा व्यवहार उस अर्थ का द्योतक है जो तत्कालीन विचारधारा द्वारा उसके शब्दों को प्रदान किया गया है और किसी प्राचीन विधि के मामले में, प्रयोग तथा व्यवहार के लिए इस प्रकार का निर्देश उसके अर्थान्वयन के लिए ग्राह्य बाहरी सहायता है। परन्तु आधुनिक विधि के लिए यह सिद्धान्त लागू नहीं होता है और यह किसी प्राचीन विधि में संदिग्धार्थक भाषा के अर्थान्वयन तक ही सीमित है। उच्चतम न्यायालय द्वारा 'तत्कालीन व्याख्या' के इस सिद्धान्त को **नेशनल एण्ड ग्रिन्डलेज बैंक** बनाम **म्यूनिसिपल कारपोरेशन ऑफ ग्रेटर बम्बई,** ए. आई. आर. 1969 सु. को. 1048 मामले में बम्बई म्यूनिसिपल कारपोरेशन एक्ट, 1886 का अर्थ जानने के लिए अपनाया था। उच्चतम न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 74 और 124 के निर्वचन के संदर्भ में उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में वास्तविक व्यवहार का भी निर्देश किया था और यह टिप्पणी की थी कि क्योंकि व्यवहार संविधान की योजना के अनुरूप है अत: इसे अनुज्ञेय संवैधानिक निर्वचन विधिक स्वीकृति प्रदान की जानी चाहिए। (देखें- **सुप्रीम कोर्ट एडवोकेटस् ऑन रिकार्ड एसोसिएशन** बनाम **यूनियन ऑफ इन्डिया,** ए. आई. आर. 1994 सु. को. 268)।

(4) शब्दकोष

जब कोई शब्द स्वयं विधि में परिभाषित नहीं किया जाता है तब यह जानने के लिए सामान्य बातचीत में वह शब्द किस अर्थ में प्रयोग किया जाता है, शब्दकोष का निर्देश करना अनुज्ञेय है [देखें - **म्यूनिसिपल बोर्ड सहारनपुर** बनाम **इम्पीरियल टुबाको ऑफ इन्डिया लिमिटेड,** (1999) 1 एस. सी. सी. 566]। तथापि, शब्दों के बहुत से अर्थों में से एक अर्थ का चयन करने में योजना संदर्भ तथा विधायी इतिहास को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

(5) विदेशी निर्णय

भारतीय विधियों के अर्थान्वयन के प्रयोजन से न्यायालय उन देशों के न्यायालयों के निर्णयों का भी निर्देश करते हैं जिनकी विधिशास्त्र की प्रणाली हमारे देश में अपनायी जा रही प्रणाली के समान हैं। ऐसे निर्णयों की सहायता इस मान्यता के अध्ययधीन होनी चाहिए कि प्राथमिक महत्व सदैव सम्बद्ध भारतीय विधि की भाषा, परिस्थितियों तथा परिवेश, जिनमें वह अधिनियमित की गई तथा भारत में परिव्याप्त संगत परिस्थितियों, जहां उसे लागू किया जाएगा, को दिया जाएगा। ये विदेशी निर्णय केवल प्रेरक महत्व रखते हैं, भारतीय न्यायालयों के लिए बाध्यकर नहीं है और जहां बाध्यकर भारतीय निर्णयों से मार्गदर्शन होता है , विदेशी निर्णयों का निर्देश निरर्थक है [देखें - **फोरासोल** बनाम **ओ. एन. जी. सी.,** ए.आई.आर. 1984 सु.को. 241, **जनरल इलैक्ट्रिक कम्पनी** बनाम **रेनूसागर पावर कम्पनी** (1987) 4 एस.सी.सी. 137]।

भारतीय संविधान में अन्तर्विष्ट मूल अधिकारों संबंधी उपबंधों का निर्वचन करते समय , उच्चतम न्यायालय ने अमरीका के पूर्व निर्णयों की सहायता ली है। ऐसे मामले में जहां अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशन अन्तर्ग्रस्त हो, वहां यही वांछनीय होगा कि जहां तक सम्भव हो, विश्व पर्यन्त विभिन्न देशों के निर्णय लगभग एक समान हों। इसलिए, ऐसे मामलों में विदेशों के निर्णय हमारे न्यायालयों के मार्गदर्शन के लिए लाभकारी हैं।

(6) ऐतिहासिक तथ्य तथा व्याप्त परिस्थितियां

विभिन्न प्रकार की बाहरी सहायता जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, उसके अतिरिक्त, न्यायालय किसी विधिक उपबंध का निर्वचन करते समय विधि की विषय-वस्तु समझने के प्रयोजन से संगत ऐतिहासिक तथ्यों या अधिनियमितियों के इतिहास पर ध्यान दे सकते हैं । न्यायालय विधि पारित होने के समय विद्यमान परिस्थितियों पर भी ध्यान दे सके हैं । परन्तु, किसी अन्य बाहरी सहायता की तरह ही ऐतिहासिक तथ्यों तथा व्याप्त परिस्थितियों से निकाले गए आशय से अधिनियमिति में प्रयुक्त की गई स्पष्ट भाषा का अर्थ प्राप्त होना चाहिए । इस संबंध में उच्चतम न्यायालय ने **मोहनलाल त्रिपाठी** बनाम **डिस्ट्रीक्ट मजिस्ट्रेट बरेली तथा अन्य** (1929) 4 एस.सी.सी. 80 मामले में निम्नलिखित टिप्पणी की है :—

> "अधिनियमिति से पूर्व किसी 'उपबंध' या 'निर्देश' के 'ऐतिहासिक विकास का मूल्य' उपबंध का अर्थ समझने तथा सराहने के लिए बाहरी सहायता है, उसके क्षेत्र और विस्तार को न्यायिक मान्यता दी गई है और उसके पाठ की सिफारिश की गई है। परन्तु किसी उपबंध, का जो अत्यन्त कठिन है, अर्थ निकालने के लिए बाहरी सहायता का प्रयोग केवल तभी किया जाना चाहिए जब धारा के क्षेत्र के बारे में कोई संदेह पैदा हो या विधि पुस्तिका में उसके विकास के अर्थान्वयन को न्यायोचित तथा तर्कसंगत सुनिश्चित करना पर्याप्त रूप से दुष्कर तथा संदिग्धार्थक पाया जाए और दूसरे तत्कालीन जांच का उद्देश्य धारा के उस भाग का सही अर्थ जानना ही होना चाहिए जो पहले जैसा ही है और जिसमें परिवर्तन करने के लिए कोई नया परन्तुक प्रतिस्थापित करने का विचार का कोई आधार नहीं है।" (पैरा 7)

जहां सामाजिक स्वरूप के प्राचीन तथ्यों को सुनिश्चित करना महत्वपूर्ण है वहां ग्राह्यता का यह नियम ऐतिहासिक कृतियों, चित्रों, नक्काशी तथा दस्तावेजों का आश्रय लेने की अनुमति देता है।

हाल में, दन्त-चिकित्सक अधिनियम, 1948 पर विचार करते हुए उच्चतम न्यायालय ने **डेन्टल काउंसिल ऑफ इन्डिया** बनाम **हरि प्रकाश** (2001)8 एस.सी.सी. 61 मामले निम्नलिखित टिप्पणी की है:—

> "यह अधिनियम संविधान के पूर्व की अधिनियमिति है परन्तु यह संविधान के पश्चात् भी प्रवर्तन में है। ऐसी अधिनियमिति का निर्वचन करते समय हमें न केवल विधान और उसमें किए गए संशोधनों को जन्म देने वाली ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ही ध्यान में नहीं रखना चाहिए अपितु इसके अन्तर्गत आने वाले विभिन्न पहलुओं को भी।" (पैरा 3.1)

26 LTBCA/05-4

इस चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि न्यायालय द्वारा विधियों के निर्वचन के लिए बाहरी सहायता के रूप में ऐतिहासिक तथ्यों, व्याप्त परिथितियों तथा संगत तथ्यों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

(7) पश्चात्वर्ती विकास और वैज्ञानिक आविष्कार

यह बहुधा सम्भव है कि किसी विधि की अधिनियमिति के पश्चात्, समाज में राजनैतिक तथा आर्थिक विकास होते हैं। नए वैज्ञानिक आविष्कार भी सामने आते हैं। जब विधि बनाई गई थी उस समय विधानमंडल को इन सभी चीजों का ज्ञान नहीं था। इसलिए, न्यायालय विधिक उपबंधों का अर्थ निकालते समय इन सभी बातों को ध्यान में रखता है। इस संबंध में न्यायमूर्ति भगवती ने **एस.पी. गुप्ता** बनाम **यूनियन ऑफ इन्डिया,** ए.आई.आर. 1982 सु.को. 149 मामले में कहा है :—

> "प्रत्येक विधिक उपबंध का निर्वचन बदलती अवधारणाओं और मूल्यों के समान चलना चाहिए और उसमें, जहां तक उसकी भाषा अनुमति देती है और निषेध नहीं करती है, न्यायिक निर्वचन के माध्यम से समायोजन होना चाहिए ताकि तीव्र गति से हो रहे सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों से तीव्र गति से परिवर्तित समाज की अपेक्षाओं से सामंजस्य रखा जा सके.....। यह बात स्पष्ट है कि विधि का संचालन शून्य में नहीं होता। अत: इसे कोई सामाजिक प्रयोजन सिद्ध करना होता है और इसका निर्वचन भी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखे बिना नहीं किया जा सकता। यहां न्यायाधीश का कर्त्तव्य सृजनात्मक हो जाता है। उसे विधानमंडल द्वारा प्रदान किए गए निष्प्राण ढांचे में प्राण फंसे होते हैं और प्रगतिशील निर्वचन की प्रक्रिया द्वारा ऐसा अर्थ प्रदान करना होता है जो विधि के साथ प्रचलित अवधारणाओं और मूल्यों में एकरूपता ला सके और न्याय प्रदान करने की एक प्रभावी लिखत बन सके।" (पैरा 62)

एस.पी. जैन बनाम **कृष्ण मोहन गुप्ता तथा अन्य,** ए.आई.आर. 1987 सु.को. 222 मामले में उच्चतम न्यायालय ने फिर से यह अभिनिर्धारित किया :

> "हमारा अभिमत है कि विधि को मामले में व्यवहारिक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए और उस प्रयोजन को जिसके लिए यह बनाई गई थी पूर्ण करना चाहिए तथा प्रौद्योगिकी की वर्तमान क्षमताओं तथा समुदाय की जीवन पद्धति को संज्ञान में लेना चाहिए।" (पैरा 18)

समय परिवर्तन के साथ, संविधान का अनुच्छेद 21, एक समय जिसका बहुत ही संकीर्ण रूप में निर्वचन किया गया था, अब उसका निर्वचन इस प्रकार से किया गया है कि जीवन के अधिकार में प्रत्येक ऐसी बात सम्मिलित की गई है जो जीवन को अर्थपूर्ण, पूर्ण तथा जीने योग्य बनाती है। उच्चतम न्यायालय ने **जे.के. कॉटन स्पिनिंग एण्ड वीविंग मिल्स लिमिटेड** बनाम **भारत संघ,** ए.आई.आर. 1988 सु. को. 191 मामले में पैरा 45 में यह टिप्पणी की है कि आधुनिक प्रगतिशील समाज में विधानमंडल के आशय को विधि बनाते समय उसमें प्रयुक्त शब्दों को दिए गए अर्थों तक ही सीमित रखना न्यायोचित नहीं होगा जब तक कि विरोधी आशय प्रकट न होता हो, प्रयुक्त शब्दों का निर्वचन नए तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, यदि प्रयुक्त शब्द इसमें सक्षम हों, किया जाना चाहिए।

इसलिए, न्यायालय को प्रावधानों के उपयुक्त अर्थान्वयन के प्रयोजन से विधि के अधिनियमन के पश्चात् हुए सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक विकास और वैज्ञानिक आविष्कारों को ध्यान में रखना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशन :

बाहरी सहायता के अतिरिक्त, न्यायालय अन्य सामग्री का भी आश्रय लेते हैं। उदाहरण के लिए, जहां आवश्यक हो, न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशनस् को ध्यान में रखते हैं (**पी.एन. कृष्णलाल** बनाम **केरल सरकार,** (1995) सु. (2)

एस.सी.सी. 187)। उच्चतम न्यायालय ने **विशाखा** बनाम **राजस्थान राज्य,** ए.आई.आर. 1997 सु. को. 3011 मामले में देशी विधि के अर्थान्वयन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशन का आश्रय लिया। न्यायालय ने टिप्पणी की :

> "इस क्षेत्र से संबंधित स्वदेशी विधि के अभाव में, सभी कार्यस्थलों पर कामकाजी महिलाओं के लैंगिक उत्पीडन की बुराई पर काबू पाने के लिए कारगर उपाय करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशनस् और सन्नियमों की अन्तर्वस्तु संविधान के अनुच्छेद 14, 15 19(1)(छ) और 21 में लिंग समता, मानव गरिमा से कार्य करने की गारंटी और उनमें विवक्षित लैंगिक उत्पीडन के रक्षोपायों के प्रयोजन से महत्वपूर्ण है। कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशन जो इन मूल अधिकारों के अनुरूप नहीं है और उसमें भावनात्मक सामंजस्य है, इन उपबंधों में पढ़ी जाने चाहिए ताकि उनके अर्थ और विषय-वस्तु व्यापक हो सकें और संवैधानिक गारंटी के उद्देश्य को पूरा किया जा सके।" (पैरा 7)

अन्य सामग्री :

इसी प्रकार, उच्चतम न्यायालय ने **रामलाल** बनाम **राजस्थान राज्य,** (2001)1 एस.सी.सी. 175 मामले में विधिक उपबंधों के निर्वचन के उद्देश्य से इन्टरनेट पर उपलब्ध जानकारी का प्रयोग किया। न्यायालय ने पाठ्य पुस्तकों तथा लेखों और पत्रिकाओं में प्रकाशित सामग्रियों की पंक्तियों के निर्देश किए। हमारा विचार है कि ये बाहरी सामग्रियां न केवल विधिक उपबंधों के उचित और सटीक निर्वचन के लिए या अर्थान्वयन के लिए अपितु विधि का उद्देश्य, उसके द्वारा समाधान किए जाने वाले अपकार, परिस्थितियां जिनमें अधिनियमित किया गया तथा अन्य विभिन्न संगत मामलों को समझने के लिए भी अत्यंत उपयोगी साधन हैं। इन बाहरी सहायताओं की ग्राह्यता के अभाव में, कभी-कभी न्यायालय किसी मामले में न्याय कर पाने की स्थिति में नहीं होगा।

बाहरी सहायताओं का उपयोजन एक समान नहीं हो सकता :

जैसीकि ऊपर चर्चा की गई है, बाहरी सहायता कानूनी उपबंधों के निर्वचन या अर्थान्वयन के लिए बहुत उपयोगी साधन है। हमारे देश में इस संबंध में लगभग निर्धारित विधि है कि कौन सी बाहरी सहायता ग्राह्य है और इनमें से प्रत्येक सहायता को कितना महत्व दिया जाना चाहिए। इन सहायताओं की ग्राह्यता के बारे में कोई अनिश्चितता नहीं है। न्यायालय भी इस संबंध में एक समान प्रक्रिया का ही अनुसरण कर रहे हैं। परन्तु इसका यह अर्थ आवश्यक नहीं है कि न्यायालय को प्रत्येक ग्राह्य बाहरी सहायता का आश्रय लेना चाहिए। प्रत्येक मामले के भिन्न तथ्य और परिस्थितियां होती हैं। इस प्रकार जब न्यायालय किसी विशिष्ट मामले में किसी विशिष्ट बाहरी सहायता का आश्रय लेने से इन्कार करता है और किन्ही विशिष्ट तथ्यों, परिस्थितियों तथा मामले के संदर्भ के कारण किसी अन्य बाहरी सहायता का आश्रय लेता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि न्यायालय एक समान प्रक्रिया नहीं कर रहे हैं या विधि अनिश्चित है।

क्या बाहरी सहायता को साधारण खण्ड अधिनियम में अन्तर्विष्ट किया जा सकता है :

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या इन बाहरी सहायताओं की ग्राह्यता संबंधी विधि को साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 में समाविष्ट किया जाना चाहिए। इस मामले पर विधि आयोग ने अपनी 60वीं रिपोर्ट के अध्याय दो में विचार किया है। विधि आयोग का विचार था कि बाहरी सहायता की ग्राह्यता के इन नियमों को संहिताबद्ध नहीं किया जा सकता। ये न्यायाधीश के बनाए हुए नियम हैं। आयोग ने इस प्रकार निम्नलिखित टिप्पणी की है :—

> "2.7 यह स्पष्ट है कि निर्वचन के सभी नियमों को संहिताबद्ध नहीं किया जा सकता। जैसाकि हम बता चुके हैं, कुछ नियम केवल मार्गदर्शी हैं। बाद में, टैगोर लॉ लैक्चर्स ऑन कोडिफिकेशन इन ब्रिटिश इन्डिया में प्रो. आचार्य ने एक सुझाव दिया था कि साधारण खण्ड अधिनियम के क्षेत्र का विस्तार किया जाना चाहिए। ताकि विधियों के निर्वचन के विषय पर एक विस्तृत संहिता बन सके। नि:संदेह यह सुझाव प्रथम दृष्टि में तो आकर्षक प्रतीत होता है परन्तु इसकी गहन जांच करने पर इसकी अव्यवहारिकता का पता चलता है। किसी निर्वचन अधिनियम

में इस विषय से संबंधित पाठ्य पुस्तकों में उल्लिखित नियमों का समावेश करना संभव नहीं है। निर्वचन अधिनियम के अस्तित्व का मुख्य कारण संसदीय विधान तैयार करने में प्रारूपणकर्ताओं के कार्य को सुगम बनाना है। न्यायालय भी विधियों के निर्वचन के लिए निर्वचन अधिनियमों का सहारा लेते हैं, परन्तु वे अपने को इन अधिनियमों तक ही सीमित नहीं रखते हैं। वे निश्चित रूप से निर्णीत मामलों में निर्धारित किए गए निर्वचन के स्वीकृत नियमों की सहायता लेते हैं।

इसके अतिरिक्त, विधि की इस शाखा में एक निश्चित मात्रा में लचीलापन होना अनिवार्य है। विधियों के अर्थान्वयन के नियम स्थिर नहीं है। विधान का उद्देश्य और प्रयोजन स्वयं विधि में ही कठोर उपबंधों के बजाय विधि के उपयुक्त न्यायिक निर्वचन द्वारा बेहतर रूप में पूरा हो सकेगा। इस समय न्यायाधीशों को मामले में थोड़ी उदारता उपलब्ध है, जिससे वे प्रत्येक विधि के स्वरूप और आशय पर विचार करने के पश्चात न्याय कर पाते हैं। यदि अर्थान्वयन के नियम किसी विधि के रूप में ही दे दिए जाते हैं तो विधि की इस शाखा की परिणामिक कठोरता से लाभ की तुलना में हानि अधिक होने की संभावना है।''

उपर्युक्त रिपोर्ट में विधि आयोग की सिफारिशें स्पष्ट रूप में परिभाषित हैं और उनमें ठोस कारण दिए गए हैं। वे कारण अभी वैध हैं। हमारा यह अभिमत है कि आगे आने वाले कारणों से भी भारत के विधि आयोग की 60वीं रिपोर्ट के अध्याय दो के पैरा 2.7 में कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है और हम पुन: इसी मत की पुष्टि करते हैं। निर्वचन के लिए बाहरी सहायता माने जाने वाले संसाधनों को सीमित करना उचित नहीं होगा क्योंकि यह कार्यवाही प्रगति विरोधी होगी। यदि बाहरी सहायता संबंधी नियमों को विधायी स्वरूप दिया जाएगा तो उपबंध कठोर हो जाएंगे और न्यायालय सामाजिक उद्देश्य या न्याय प्रदान करने के लिए निर्वचन के अपने न्यायिक कृत्य से वंचित हो जाएंगे। न्यायालय उपयोगी जानकारी की न्यायिक अपेक्षा नही कर सकेगा, यदि इस प्रकार की जानकारी प्राप्त करना संहिताबद्ध नियमों के कारण जो विधायी रूप में इस प्रकार के प्रयोग को निषिद्ध करते हैं, अनुयेय नहीं होगा। विधानमंडल उन परिस्थितियों की विस्तृत सूची नहीं बना सकेगा जिन्हें केवल न्यायालय ही बाहरी सहायता के रूप में प्रयोग कर सकेंगे।

विधि के निर्वचन के बारे में **ब्रिटिश तथा स्काटिश विधि आयोग ने अपनी रिपोर्ट (1969)** में इन नियमों को संहिताबद्ध न किए जाने के पक्ष का प्रतिपादन किया है। रिपोर्ट के अध्याय पांच में इस विषय पर चर्चा हुई है। रिपोर्ट के पैरा 46 में कहा गया है :—

''यह बात स्वत: स्पष्ट है कि किसी विधि को समझने के लिए न्यायालय को बहुत से ऐसे मामलों पर ध्यान देना होता है जो स्वयं विधि में नहीं पाएं जाते हैं। कोई विधान शून्य में नहीं बन जाता और उसका निर्वचन करने वाला न्यायाधीश समाज के, जहां उसका क्रियान्वयन होना है, विधायी, सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य पहलुओं से संबंधित बहुत सी जानकारी की न्यायिक अपेक्षा कर सकता है। हमारे विचार में इन पहलुओं से संबंधित विस्तृत निदेश देने का प्रयास करना उपयोगी सिद्ध नहीं होगा।''

इसके पश्चात अध्याय नौ में (निष्कर्षों तथा सिफारिशों का सारांश, पैरा 81) यह टिप्पणी की गई है :—

''81. हम पैरा 79 में संक्षिप्त रूप में दिए गए तर्क को हम इस सीमा तक स्वीकार करते हैं कि विधान के निर्वचन में न्यायालयों द्वारा जिन पहलुओं को ध्यान में रखा जाता है हम उनके किसी विस्तृत विधिक प्रगणन का प्रस्ताव नहीं करते हैं, उन देशों में भी जहां अधिकधिक संहिताबद्ध प्रणालियां हैं वहां भी निर्वचन के सिद्धांत अधिकांशत:विधि लेखकों और न्यायालयों के व्यवहार द्वारा विकसित उदार सिद्धांतों पर निर्भर हैं।''

हम 'ए न्यू इन्टरप्रिटेशन एक्ट' पर **न्यूजीलैंड लॉ कमीशन रिपोर्ट सं. 17 (एस)** 1990 का निर्देश करते हैं जिसमें न्यूजीलैंड विधि आयोग ने इन्टरप्रिटेशन एक्ट, 1924 की समीक्षा की है और न्यू इन्टरप्रिटेशन एक्ट पर एक रिपोर्ट तैयार की है और रिपोर्ट के सारांश के पैरा 16 में आयोग ने महत्वपूर्ण मामले परिलक्षित किए हैं। एक मामला यह था कि क्या एक्ट में

अधिनियमिति के निर्वचन की सहायता के लिए उसके पाठ से विलग सामग्रियों के प्रयोग को विनियमित किया जाना चाहिए। स्पष्टत: है कि इन सामग्रियों को बाहरी सहायता समझा जाएगा। इस प्रश्न का उत्तर रिपोर्ट के सारांश के पैरा 22 में इस प्रकार दिया गया हैं :—

'22. रिपोर्ट का निष्कर्ष है कि व्यवहार से पता चलता है कि कभी-कभी संसदीय सामग्री पर विचार करना महत्वपूर्ण है। तदनुसार निषेधकारी नियम न्यायोचित नहीं है। और जबकि अनुज्ञेय नियम रिपोर्ट में उल्लिखित प्रश्नों को संबोधित करेगा, अन्यत्र दिए गए विधायी उत्तर न्यायालय को कोई महत्वपूर्ण सहायता नहीं दे पायेंगे। न्यायालय स्वयं ही सगति और महत्व के बारे में नियम और प्रक्रिया विकसित कर रहे हैं और निरन्तर करते रहेंगे। तदनुसार, आयोग संसदीय सामग्री के प्रयोग को विनियमित करने के लिए विधान बनाने का कोई प्रस्ताव नहीं करता है।'

आयोग ने यह सिफारिश की कि विधान के निर्वचन संसदीय सामग्री का प्रयोग किसी सामान्य विधि द्वारा विनियमित नहीं किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि तीनों विधि आयोगों ने, अर्थात् भारतीय विधि आयोग (1974 में प्रस्तुत की गई आयोग की 60वीं रिपोर्ट) ब्रिटिश और स्काटिश विधि आयोग (1969 में प्रस्तुत की गई उनकी संयुक्त रिपोर्ट) और न्यूजीलैंड विधि आयोग (1990 में प्रस्तुत की गई रिपोर्ट) स्पष्ट रूप में यह सिफारिश की है कि बाहरी सामग्री के प्रयोग के बारे में निर्वचन के नियम विधायी रूप में अधिनियमित नहीं किए जाने चाहिए। सभी विधि आयोगों की ये सिफारिशें ठोस कारणों पर आधारित हैं और हम इन सिफारिशों से सहमति व्यक्त करते हैं। कुछ अन्य अन्तर्निहित कारण और भी हैं जो इन नियमों के संहिताबद्ध किए जाने की अवधारणा के प्रतिकूल हैं।

निर्वचन के लिए कतिपय स्वविवेक तथा उदार दृष्टिकोण की अपेक्षा होती है और न्यायाधीशों को यह स्वविवेकाधिकार प्राप्त होना ही चाहिए। यदि बाहरी सहायता के बारे में नियमों को संहिताबद्ध किया जाएगा तो न्यायाधीशों को वह विवेकाधिकार प्राप्त नहीं रहेगा जो उन्हें वर्तमान में प्राप्त है। स्वविवेक तथा उदारता के अभाव में, न्यायालय न्याय करने की स्थिति में नहीं होंगे।

भाटिया इन्टरनेशनल बनाम **बल्क ट्रेडिंग एस. ए,** (2002)4 एस.सी.सी. 105 मामले में उच्चतम न्यायालय ने निम्नलिखित टिप्पणी की है:

'परम्परागत सिद्धांत के होते हुए भी न्यायाधीशों का कर्तव्य व्याख्या करना है विधान बनाना नहीं, न्यायालयों का यह दृष्टिकोण है कि निर्वचन और मूल्यांकन की न्यायिक कला में सृजनात्मकता और यथार्थ समाविष्ट है और क्योंकि निर्वचन में सदैव विवेक और चयन की एक मात्रा अन्तर्निहित रहती है, न्यायालय विशेषकर सामाजिक और अधिकारों को समाप्त करने से संबंधित संवैधानिक न्याय निर्णय जैसे क्षेत्रों में यही मार्ग अपनाएंगे ...।' (पैरा 15)

इसलिए, जब निर्वचन में स्वविवेक और चयन की अपेक्षा रहती है, तब निर्वचन के लिए विशेषकर बाहरी सहायता के प्रयोग के बारे में, नियमों को संहिताबद्ध करना उचित नहीं होगा।

सांविधिक उपबंधों के निर्वचन में न्यायालयों को उदारता प्रदान करने का एक प्रमुख कारण यह है कि विधानमंडल सभी परिस्थितियों को विस्तार से पहले सही नहीं देख सकते हैं जो विधिक उपबंध अधिनियमित करने के पश्चात उत्पन्न हो सकती है जहां उनका लागू किया जाना आवश्यक होगा। बहुत सोच समझकर कार्य करने वाले विधानमंडलों के लिए भी भविष्य की परिस्थितियों के बारे में ज्ञान होना असंभव है। इस संबंध में उच्चतम न्यायालय ने **रतनचंद हीराचन्द** बनाम **असकर नवाज जंग (मृतक),** (1991) 3 एस.सी.सी. 67 मामले में यह टिप्पणी की है :

'विधानमंडल प्राय: परिवर्तनशील आवश्यकताओं और जीवन मूल्यों से कदम मिलाकर नहीं चल पाता और न ही अपेक्षा करना यथार्थ है कि समस्त आकस्मिकताओं एवं आवश्यकताओं के लिए वह उपबंध करे। इसलिए,

न्यायालयों के लिए न केवल यह आवश्यक है बल्कि बाध्यकर है कि वह इस कमी को आगे बढ़कर पूरा करे। (पैरा 17)'

यदि हम बाहरी सहायता के प्रयोग के संबंध में निर्वचन के नियम बनाना चाहते हैं तो उपर्युक्त सिद्धांत को ध्यान में रखना आवश्यक है। विधानमंडल जब वह आज कोई विधि बनाता है, तब वह इस बात का पूर्वानुमान नहीं लगा सकता कि वर्षों के पश्चात किस प्रकार की सहायता उपयोगी होगी और न ही वह उन सभी परिस्थितियों का पूर्वानुमान लगा सकता है जिसमें कोई विशिष्ट सहायता सहायक सिद्ध हो सकेगी। उदाहरण के लिए, अब न्यायालय विदेशी अधिकारिता वाले निर्णयों की जानकारी, जो इन्टरनेट पर उपलब्ध है, का प्रयोग निर्वचन के लिए बाहरी सहायता के रूप में कर रहे हैं। भूतकाल में यह सुविधा अज्ञात थी। इसी प्रकार भविष्य में भी कोई नई प्रौद्योगिकी सामने आ सकती है। साथ ही ऐसी नई और विचित्र परिस्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं जहां न्यायालय को किसी ऐसी सामग्री या सहायता का आश्रय लेना पड़े जो भूतकाल में बाहरी सहायता के रूप में प्रयोग नहीं की गई है। इसलिए, विधियों के निर्वचन के लिए बाहरी सहायता के रूप में प्रयोग हेतु कठोर तथा विधिक नियम बनाना वांछनीय नहीं है। इसी प्रकार, न्यायालय किसी न्यायालय को किसी सांविधिक उपबंध का निर्वचन करने के लिए समाज में व्याप्त तत्कालिक समाजिक आर्थिक परिस्थितियों को ध्यान में रखना होता है। न्यामूर्ति कृष्ण अय्यर ने **मैसूर राज्य** बनाम **आर.वी. बिदप** ए आई आर 1973 एस.सी. 2555 मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि जहां भाषा संदिग्धार्थक हो वहां सामाजिक संदर्भ को बाहरी सहायता के रूप में देखा जा सकेगा। जैसाकि पिछले पैराग्राफ में कहा गया है न्यायमूर्ति भगवती ने **एस.पी. गुप्ता** मामले में अभिनिर्धारित किया है कि प्रत्येक विधिक उपबंध का निर्वचन बदलती अवधारणा और मूल्यों के अनुरूप होना चाहिए और यह तीव्र गति से बदलते हुए समाज की अपेक्षाओं के अनुरूप होना चाहिए। ऐसे समाजिक और आर्थिक परिवर्तनों को विधायी स्वरूप नहीं दिया जा सकता। इसके अतिरिक्त, समय के साथ-साथ शब्दों के अर्थ भी बदल जाते हैं। उदाहरण के लिए वर्ष 1950 में **ए. के. गोपालन** मामले में भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 में जीवन और व्यैक्तिक स्वतंत्रता शब्दों के अर्थ का निर्वचन केवल स्वस्थ अथवा शारीरिक स्वतंत्रता के संदर्भ में किया गया था इससे अधिक नहीं और ''विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया का निर्वचन किसी भी प्रकार की 'विधि द्वारा विहित कोई भी प्रक्रिया' के रूप में किया गया था। परन्तु 'जीवन और वैयक्तिक स्वतंत्रता' शब्दों का अर्थ अब काफी व्यापक हो गया है और इसके अर्थ से किसी व्यक्ति के जीवन को सार्थक, पूर्णरूपेण तथा गरिमापूर्ण जीने योग्य बनाने वाले जीवन के सभी पहलुओं को संरक्षण प्रदान करना, अभिप्रेत है। जीवन के अधिकार में वे सभी बाते सम्मिलित होंगी जो किसी व्यक्ति के जीवन को अर्थ देती हैं। उदाहरण के लिए, उसकी परम्परा, संस्कृति, विरासत और उस विरासत का पूरी तरह से संरक्षण। **रामशरण** बनाम **भारत संघ,** (1989) सप्ली (1) एस.सी.सी. 9 (पैरा 13-14)। इसमें अच्छे स्वास्थ्य का अधिकार (एम.सी. मेहता बनाम भारत संघ, (1999) 6 एस.सी.सी. 9 (पैरा 1); स्वास्थ्य परिवेश का अधिकार (**ए.पी. पोल्यूशन कंट्रोल बोर्ड-II** बनाम **प्रो. एम.वी. नायडू** (2001)2 एस.सी.सी. 62); स्वास्थ की देखभाल का अधिकार (**पंजाब राज्य** बनाम **राम लुभाया,** (1998)4 एस.सी.सी. 11) भी सम्मिलित होंगे। अब, विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया का अर्थ है कि मूल विधि तथा प्रक्रियात्मक विधि न्यायोचित निष्पक्ष तथा तर्कसंगत होनी चाहिए। साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 में प्रयुक्त शब्दों 'राज्य के कार्य' का अर्थ भी समय के साथ बहुत अधिक परिवर्तित हो गया है। इस संबंध में विधि आयोग ने अपनी 60वीं रिपोर्ट के पैरा 2.9 में निम्नलिखित टिप्पणी की है :

'साथ ही समय के गुजरने के साथ-साथ शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो सकता है। जैसाकि कहा गया है कुछ शब्द अपने इतिहास तक सीमित है और कुछ शब्दों से इतिहास प्रारम्भ होता है ।'

संता सिंह बनाम **पंजाब राज्य** : ए.आई.आर. 1976 सु.को. 2386 मामले में उच्चतम न्यायालय ने टिप्पणी की है :

''मि. जस्टिस होम्स ने अपनी अनुपम शैली में यह बतलाया है कि कोई शब्द इतना विमल, शुद्ध और परिवर्तनीय नहीं है और यह जीवन्त विचार बाह्यकरण है और वह परिस्थितियों और समय के अनुसार जिसमें इसका प्रयोग किया गया है, अपने स्वरूप और विषय वस्तु के अनुसार अधिकतर बदल सकता है।''

इस प्रकार के नियम को विधायी रूप में अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती कि शब्दों के अर्थ समय के साथ-साथ परिवर्तित हो सकें।

किसी उपबंध का निर्वचन करने में न्यायालय को किसी शब्द का मौलिक अथवा गणितिय अर्थ लेना उपयुक्त नहीं होगा। विधि आयोग ने इस संबंध में अपनी 60वीं रिपोर्ट में टिप्पणी की है :

''2.12 यह निश्चित ही सर्वमान्य है कि निर्वचन केवल निर्धारित मार्गनिर्देशों के द्वारा अर्थ अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया नहीं है। इसे कभी-कभी विधि बनाने के स्वरूप में भी भागीदार होना पड़ता है। निर्वचन गणित नहीं होता है जहां गणित किसी विशिष्ट समस्या का प्रत्येक व्यक्ति द्वारा दिया गया उत्तर, यदि उत्तर सही है, अन्य व्यक्तियों के उत्तरों के समान ही होना चाहिए। जैसाकि हम बाद में बताएंगे, उनके साथ थोड़ी उदारता बरती जाती है जिन्हें निर्वचन करना है और उस सीमा तक निर्वचन विधि बनाने के सदृश्य होता है।''

उच्चतम न्यायालय ने **हरिप्रसाद शिवशंकर शुक्ल** बनाम **ए.डी. दिवेल्कर,** ए.आई.आर. 1957 सु.को. 121 मामले में [**ग्रेटर नॉरदर्न रेलवे कम्पनी** बनाम **यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका** (1924) 315 यू.एस. 262 मामले में] अमेरिकी निर्णय से निम्नलिखित पंक्तियों को स्वीकृति देते हुए उनका निर्देश किया :

''हम कांग्रेस का आशय जानने के लिए (हमारे मामले में संसद) विधि के जीवन विहीन शब्दों और अर्थान्वयन के औपचारिक मानदंडों तक सीमित नहीं है।''

डिस्ट्रिक्ट माइनिंग ऑफिसर बनाम **टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी,** (2001) 7 एस.सी.सी. 358 मामले में यह टिप्पणी की गई कि शब्दों का केवल मौलिक निर्वचन और अवधारणा या उद्देश्य विहीन विधायी आशय के प्रवर्तन से उपचारात्मक तथा लाभात्मक विधान अधिकांशत: निष्फल हो जाएगा।

एक अन्य मामले में उच्चतम न्यायालय ने टिप्पणी की हैं :

''बहुधा कहा जाता है कि विधियों का अर्थ रेखागणित के प्रमेयों की भांति नही अपितु उनके पीछे निहित उद्देश्य को ध्यान में रखकर निकाला जाना चाहिए और शब्दों का शाब्दिक अर्थ, आशय या प्रयोजन का त्याग करते हुए बाहरी आवरण तक ही सीमित रहेगा'' [देखें—**टाटा इंजीनियरिंग एण्ड लोकोमोटिव कम्पनी लिमिटेड** बनाम **स्टेट ऑफ बिहार,** (2002) 5 एस.सी.सी. 346] (पैरा 15)।''

इसके अतिरिक्त, निर्वचन के नियम विधि के नियम नहीं हैं, वे केवल अर्थान्वयन के सहायक हैं और इनसे कुछ मुख्य विषय स्थापित होते हैं। यह निर्णय करना न्यायालय का कार्य है कि परिस्थितियों की दृष्टि से कौन से नियम लागू होंगे या लागू होने चाहिएं [देखें—**केशवजी रावजी एण्ड कम्पनी** बनाम **सी आई टी,** (1990) 2 एस.सी.सी. 231]।

विधि आयोग ने अपनी 60वीं रिपोर्ट के पैरा 2.9 में कहा है :

''विधियां सामान्य बाध्यकारी विधिक नियम स्थापित करने के लिए समाज द्वारा गठित प्राधिकरण की इच्छा की अभिव्यक्ति होती हैं। सांविधिक विधि की बाध्यकारी शक्ति उस फारमूले से सम्बद्ध है जिसमें विधि की अभिव्यक्ति की गई है। विधि के निर्वचन का कार्य, जीवन के तथ्यों में पूर्णतया संभव रूप में स्वीकारने की दृष्टि से, फारमूले से वह सब कुछ निकलना है जिसमें विधिक नियम अन्तर्विष्ट हैं। इसलिए, कठोर नियमों का अन्त:स्थापन निर्वचन की अवधारणा के प्रतिकूल होगा।''

कोई विधि पाठ के रूप में अभिव्यक्त विधानमंडल की इच्छा का प्रतीत है। किसी भी भाषा के शब्द निश्चित तथा सही अर्थ देने वाले वैज्ञानिक प्रतीक नहीं है अपितु विभिन्न समय पर विभिन्न अर्थ का निर्देश करने में सक्षम हैं। दो दृष्टिकोण बहुधा

संभव हैं। किसी विधिक उपबंध की भाषा संदिग्धार्थक हो सकती है। इन सभी चीजों से निर्वचन की आवश्यकता पड़ती है। संसदीय प्रारूपकारों की न्यायालयों द्वारा विभिन्न मामलों में आलोचना की गई है। **इंस्टीच्यूट ऑफ चार्टर्ड एकाउंटेंट्स** बनाम **प्राइस वाटर हाऊस,** ए.आई.आर. 1998 एस.सी. 74 मामले में उच्चतम न्यायालय ने टिप्पणी की है :

> ''निर्वचन किसी विशिष्ट प्रकार के सम्प्रेषण की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में विधि में प्रयुक्त शब्दों का सही अर्थ खोजने का स्वीकृत तथ्य है। यह कार्य सरल नहीं है क्योंकि भाषा का साधारण बातचीत या पत्राचार में बहुधा गलत अर्थ लगा लिया जाता है। दुखद बात यह है कि पत्राचार या बातचीत में जिस व्यक्ति ने शब्दों का प्रयोग किया है या शब्द कहे हैं उससे उनका स्पष्टीकरण मांगा जा सकता है परन्तु विधानमंडल के मामले में ऐसा नहीं किया जा सकता क्योंकि विधानमंडल विधि या अधिनियम अधिनियमित करने के पश्चात्, जहां तक विशिष्ट अधिनियम का संबंध, है अपने कार्य से निवृत्त हो जाता है और वह उसका निर्वचन नहीं कर सकता''। (पैरा 47)

न्यायालय ने आगे कहा है—

> ''विधि क्योंकि विधानमंडल की आज्ञा है इसलिए यह आवश्यक है कि उसकी भाषा स्पष्ट और असंदिग्ध हो। न्यायालयों के अनेक बार कहने के उपरान्त भी प्रारूपकार इस ओर ध्यान नहीं देते हैं और अभी भी ब्रिटिशकाल की वही शेखी बघारते हैं 'मैं संसदीय प्रारूपकार हूँ, मैं देश की विधियों का लेखक हूँ। और नि:संदेह मेरे कारण ही कुल संख्या के आधे मुकदमे .....' '' (पैरा 23)।

अब, यदि बाहरी सहायता के प्रयोग के बारे में निर्वचन के नियमों को भी विधायी स्वरूप दे दिया जाए, तब भी बाहरी सहायता के बारे में इन विधिक उपबंधों की न्यायालय से निर्वचन की आवश्यकता पड़ेगी क्योंकि प्रयुक्त भाषा में दो दृष्टिकोण हो सकते हैं और भाषा संदिग्धार्थक हो सकती है। इसलिए, इन नियमों को संहिताबद्ध करने से कोई उपयोगी समाधान नहीं निकलेगा अपितु निर्वचन की और अधिक समस्याएं पैदा हो जाएगी।

हमारे देश में, वैज्ञानिक प्रणाली के स्वरूप में निर्वचन के नियम निर्वचन के मीमांसा सिद्धांत के रूप में अत्यन्त प्राचीनकाल में ही विकसित हो गए थे। इन्हीं सिद्धान्तों को हमारे विज्ञ न्यायविदों विजनानेश्वर (मिताक्षरा के लेखक), जीमुतवाहन (दयाभाग के लेखक), नन्दा पंडित (दत्तक मीमांसा के लेखक) आदि ने निरन्तर रूप में प्रयोग किया है। जब कभी या जहां कहीं दो स्मृतियों, उदाहरण के लिए, मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति के बीच कोई विरोध पाया गया या किसी श्रुति और स्मृति के बीच अस्पष्टता पाई गई, मीमांसा के सिद्धान्तों का प्रयोग किया गया। प्रारम्भ में ये मीमांसा नियम, लगभग 500 वर्ष ई.पू. जैमिनी द्वारा अपने सूत्रों में यज्ञ से संबंधित धार्मिक पाठों के निर्वचन के लिए अधिकथित किए गए थे। परन्तु, धीरे-धीरे ये सिद्धान्त ही विधिक पाठों के निर्वचन के लिए भी प्रयोग किए जाने लगे, विशेषकर इसलिए कि स्मृतियों में एक सी पुस्तकों में धार्मिक और विधिक पाठ आपस में मिले होते थे।

इलाहाबाद उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, सर जॉन एस ने **बेनी प्रसाद** बनाम **हरदई बीबी.** (1892) आई. एल. आर. 14 इला. 67 (एफ बी) मामले में मीमांसा सिद्धान्तों का निर्देश किया है।

इसी प्रकार, मीमांसा सिद्धांत का गुण प्रधान स्वत: सिद्ध प्रमाण **अमित प्लास्टिक इन्डस्ट्री, गाजियाबाद** बनाम **डिवीजनल लेवल कमेटी, मेरठ** (सी.एम.डब्ल्यू.पी. सं. 372/1989, तारीख 10 नवम्बर, 1993 को निर्णीत) मामले में उत्तर प्रदेश विक्रयकर अधिनियम की धारा 419 के निर्वचन के लिए लागू किया गया। इसके पश्चात्, **त्रिभुवन मिश्रा** बनाम **डिस्ट्रीक्ट इन्सपैक्टर ऑफ स्कूल्स, आजमगढ़** (सी.एम.डब्ल्यू.पी. सं. 17554/1990, तारीख 30 मार्च, 1992 को निर्णीत) मामले में सामजस्य को लागू किया गया था।

उच्चतम न्यायालय ने भी इन प्राचीन सिद्धान्तों पर ध्यान दिया है। **यू.पी. भूदान यज्ञ समिति, उ.प्र.** बनाम **बृज किशोर,** ए.आई.आर. 1988 एस.सी. 2239 मामले में उच्चतम न्यायालय ने एक श्लोक उद्धृत करते हुए इनमें से एक सिद्धान्त को लागू किया। इस संबंध में न्यायालय ने पाया है :

> ''इस देश में, हमें समृद्ध साहित्य विरासत में मिला है। इस बात को नोट करते हुए हर्ष होता है कि निर्वचन संबंधी साहित्य भी सर्वविदित है। निर्वचन के सिद्धान्त विभिन्न श्लोकों में दिए गए हैं जो सैकड़ों वर्षों से ज्ञात हैं''। (पैरा 11)

क्या मीमांसा के इन नियमों को विधायी रूप दिया जा सकता है। उत्तर होगा, नहीं। इस प्रकार, यदि बाहरी सहायता और अर्थान्वयन संबंधी नियमों को संहिताबद्ध किया जाता है, तब यह हो सकता है कि कतिपय मूल स्रोत अनजाने में ही निर्वचन के कार्यक्षेत्र से बाहर रह जाएं।

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि निर्वचन के नियमों को, विशेषकर बाहरी सहायता से संबंधित, विधायी स्वरूप नहीं दिया जाना चाहिए और न ही दिया जा सकता।

यदि दिया भी जाता है, तो इन्हें विस्तार से नहीं अपितु अन्तर्ग्रस्त रूप में दिया जा सकता है। ब्रिटेन के निर्वचन अधिनियम, 1978 में भी बाहरी सहायता के प्रयोग के बारे में कोई नियम नहीं दिए गए हैं। विधि के निर्वचन पर वर्ष 1969 में प्रस्तुत की गई ब्रिटिश तथा स्काटिश विधि आयोग की संयुक्त रिपोर्ट के परिशिष्ट-क में अन्तर्विष्ट खण्डों के प्रारूप में ये नियम विस्तार से नहीं दिए गए हैं। खण्ड-1 के उपखण्ड (1) की भाषा से यह स्थिति स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती है। यह उपखण्ड इस प्रकार है :

> ''1-(1) किसी अधिनियम के किसी उपबंध का अर्थ अभिनिश्चित करने में, जिन मामलों पर विचार किया जाएगा उनमें इस धारा के अतिरिक्त उस प्रयोजन के विचार किए जाने वाले मामलों के अतिरिक्त, निम्नलिखित होंगे, अर्थात् —.....''

इस खण्ड को पढ़ने से पता चलता है कि यह उपबंध अन्तर्ग्रस्त है विस्तृत स्वरूप से नहीं है। इसके अतिरिक्त, ब्रिटेन के 1978 के निर्वचन अधिनियम में यह उपबंध अन्तर्विष्ट भी नहीं है।

'एक नए निर्वचन अधिनियम' के बारे में न्यूजीलैण्ड विधि आयोग की रिपोर्ट सं. 17(एस) के साथ प्रस्तुत किए गए प्रारूप निर्वचन अधिनियम, 1991 में बाहरी सामग्री के विषय में कोई उपबंध अन्तर्विष्ट नहीं है।

आस्ट्रेलिया में, किसी अधिनियम के निर्वचन में बाहरी सामग्री के प्रयोग के बारे में निर्वचन अधिनियम, 1901 में एक नई धारा 15एबी जोड़ी गई है। उपधारा (1) में यह उपबंधित है कि किसी अधिनियम के उपबंध के निर्वचन में कोई सामग्री जो अधिनियम का भाग नहीं है (बाहरी सामग्री) कतिपय परिस्थितियों में उपबंध का अर्थ अभिनिश्चित करने में सहायक हो सकेगी। उपधारा (2) में एक सूची दी गई है जो निर्वचन के प्रयोजन से प्रयोग की जा सकेगी। परन्तु यह सूची भी अन्तर्ग्रत स्वरूप की ही है।

इसके साथ ही, बाहरी सहायता के प्रयोग के बारे में निर्वचन के कतिपय नियमों के, यद्यपि उनमें परिवर्तन किए गए हैं, संहिताबद्ध किए जाने की आवश्यकता नहीं है और 60वीं रिपोर्ट में की गईं सिफारिशें अभी भी संगत हैं।

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर, हमारा विचार है, (1) किसी उपबंध के अस्पष्ट होने की स्थिति में, ऐसे किसी विधिक वाह्य सामग्री या सहायता अर्थात् बाहरी सहायता का आश्रय ले सकते हैं; (2) निर्वचन के नियम, विशेषकर बाहरी सहायता के प्रयोग के विषय में, साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 में नहीं जोड़े जाने चाहिए।

हम तद्नुसार सिफारिश करते हैं।

26 LJ&CA/05-6

प्रश्न (ख) के बारे में :

क्या आयोग की 60वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिशों के पुनरीक्षण की आवश्यकता है और क्या ये अब संगत नहीं रही हैं।

निर्देश पत्र से, हमने सूचना और प्रौद्योगिकी के बारे में एक अनुच्छेद का चयन किया है। मात्र इस कारण से कि सूचना और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुई प्रगति को ध्यान में रखते हुए सूचना और प्रौद्योगिकी अधिनियम, 2000 के द्वारा भारतीय साक्ष्य अधिनियम में संशोधन किया गया है, साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 में कोई संशोधन नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि 'संशोधित साधारण खण्ड अधिनियम' पर, केवल केन्द्रीय अधिनियमितियों पर, व्यापक प्रभाव पड़ेगा।

इस बात का उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा कि साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 में संशोधन करने के लिए 60वीं रिपोर्ट में की गई प्रस्तावित सिफारिशें प्रस्तावित संशोधनकारी अधिनियम के प्रवर्तन में आने के पश्चात् केवल नई केन्द्रीय विधियों के लिए प्रवर्तनीय होंगी और इसलिए वर्तमान केन्द्रीय विधियों पर किसी प्रस्तावित संशोधनकारी उपबंध का प्रभाव पड़ने की कोई संभावना नहीं है।

साधारण खण्ड अधिनियम, 1897, साधारण खण्ड अधिनियम, 1868 और साधारण खण्ड अधिनियम, 1887 का समेकित रूप है। इन अधिनियमों का मुख्य उद्देश्य, जैसाकि 1868 और 1887 के अधिनियमों की प्रस्तावनाओं में उल्लिखित है, भारत में प्रवर्तनीय रूप में केन्द्रीय अधिनियमों में प्रयुक्त भाषा को संक्षिप्त करना है। काउंसिल ऑफ गवर्नर जनरल के तत्कालीन विधि सदस्य माननीय एम.डी. चामर्स ने 1897 के अधिनियम का विधेयक पेश करते हुए काउंसिल में बताया था कि नए विधेयक का आशय किसी भी प्रकार से वर्तमान विधि में परिवर्तन करना नहीं था। उन्होंने आगे कहा था कि इसका उद्देश्य केवल भावी विधिक अधिनियमितियों की भाषा को संक्षिप्त रूप देना था। (देखें—भारत का राजपत्र, भाग-VI, पीपी 35-6 दिनांक 6 फरवरी, 1897)।

साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 की धारा 3 में परिभाषा दी गई है। उक्त धारा के छियासठ खंड हैं जिनमें विभिन्न विधियों में प्रयुक्त शब्द तथा पदों के अर्थ दिए गए हैं। इन परिभाषा खण्डों में दिए गए शब्दों के अर्थ 1897 के अधिनियम और इस अधिनियम के प्रवर्तन के पश्चात् बनाए गए सभी केन्द्रीय अधिनियमों तथा विनियमों के लिए ही प्रयोज्य हैं जब तक कि उन अधिनियमों तथा विनियमों में अपनी पृथक परिभाषाएं न दी गई हों या विषय या संदर्भ में कोई बात विरुद्ध न हो। धारा 3 के प्रारम्भिक शब्द निम्नलिखित हैं—

> "3. **परिभाषाएं**—इस अधिनियम में तथा इस अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् बनाए गए सभी केन्द्रीय अधिनियमों और विनियमों में, जब तक विषय या संदर्भ में कोई बात विरुद्ध न हो,....."

'इस अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् बनाए गए सब केन्द्रीय अधिनियम और विनियम' शब्द यह दर्शाते हैं कि इस धारा में दी गई परिभाषाएं उन्हीं अधिनियमों और विनियमों के लिए लागू होंगी जो 1897 के पश्चात् बनाए गए थे। जहां तक 1897 से पूर्व बनाए गए अधिनियमों और विनियमों का संबंध है, उनके लिए धारा 3 लागू नहीं होगी। इसलिए, **स्टेट ऑफ उड़ीसी बनाम गंगाधर सुबुधी,** ए.आई.आर. 1986 कटक 102, मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि क्योंकि प्रान्तीय लघु हेतुक न्यायालय अधिनियम 1887 में पारित हुआ था, इसलिए, साधारण खंड अधिनियम, 1897 की धारा 3 में दी गई परिभाषा इस अधिनियम पर लागू नहीं होगी। इसी प्रकार, आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय में, **फातिमा फौजिया** बनाम **सईद-उल-मुल्क,** ए.आई.आर. 1979 ए.पी. 229 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि क्योंकि ट्रस्ट अधिनियम, 1897 में दी गई 'सदाशय' की परिभाषा 'ट्रस्ट एक्ट' के लिए लागू नहीं होगी। इसी आधार पर इलाहाबाद उच्च न्यायालय में, **लक्ष्मी साद** बनाम **लक्ष्मी नारायण,** ए.आई.आर. 1928 इला. 41 मामले में भी यही अभिनिर्धारित किया गया कि साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 में दी गई 'सदाशय' की परिभाषा सम्पति अन्तरण अधिनियम, 1882 के लिए लागू नहीं होगी।

साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 में अधिनियमों , विनियमों, नियमों या उपविधियों के अर्थान्वयन के बारे में भी उपबंध अन्तर्विष्ट हैं। परन्तु ये उपबंध उन्हीं अधिनियमों, विनियमों आदि के लिए लागू होते हैं जो साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 के प्रभावी होने के पश्चात् बनाए गए थे। जहां तक 1897 से पूर्व बनाए गए अधिनियमों, विनियमों आदि का संबंध है, साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 की धारा 5 से धारा 13 तक में विनिर्दिष्ट अर्थान्वयन के नियम उन अधिनियमितियों के लिए लागू नहीं होंगे।

इस संबंध में 1897 के अधिनियम की धारा 29 संगत है, जिसका पाठ नीचे दिया जा रहा है :—

"29. पूर्व अधिनियमितियों, नियमों और उपनियमों के लिए व्यावृत्ति

इस अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् बनाए गए अधिनियमों, विनियमों, नियमों या उपनिवियों के अर्थान्वयन के बारे में इस अधिनियम के उपबंध इस अधिनियम के प्रारम्भ से पूर्व बनाए गए किसी अधिनियम, विनियम, नियम या उपविधि के अर्थान्वयन पर प्रभाव नहीं डालेंगे यद्यपि वह अधिनियम, विनियम, नियम या उपविधि इस अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् बनाए गए किसी अधिनियम, विनियम, नियम या उपविधि द्वारा चालू रखी गई हो या संशोधित की गई हो।"

यह धारा 29 उसके उपबंधों को ऐसे अधिनियमों, विनियमों, नियमों या उपविधियों के अर्थान्वयन के प्रयोजन के लिए लागू किए जाने का निषेध करती है जो साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 के पूर्व बनाए गए थे, यद्यपि वे 1897 का अधिनियम प्रारम्भ होने के पश्चात् भी चालू रहे हैं या 1897 के पश्चात् किसी विधान द्वारा संशोधित किए गए हैं।

यह धारा 29 ब्रिटिश निर्वचन अधिनियम, 1889 की धारा 40 के अनुरूप है। इसमें कहा गया है।

"40. भूतकालिक अधिनियमों के लिए व्यावृत्ति।

इस अधिनियम के प्रारम्भ होने के पश्चात् पारित अधिनियमों के अर्थान्वयन के संबंध में इस अधिनियम के प्रारम्भ होने से पूर्व पारित किए गए किसी अधिनियम के अर्थान्वयन पर प्रभाव नहीं डालेंगे, यद्यपि, यह ऐसे प्रारम्भ के पश्चात् पारित किसी अधिनियम द्वारा चालू रखा गया है या संशोधित किया गया है।"

इन उपबंधों से (साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 की धारा 3 और धारा 29) स्पष्ट हो जाता है कि साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 में दी गई विधियों के अर्थान्वयन के नियम तथा शब्द और पदों के अर्थ केवल उन्हीं केन्द्रीय अधिनियमों, विनियमों, नियमों और उपविधियों के लिए लागू होंगे जो 1897 के अधिनियम के प्रारम्भ होने के पश्चात् बनाए गए हैं। जैसाकि विधि आयोग की 60वीं रिपोर्ट में टिप्पणी की गई है, जो नीचे उद्धृत की जा रही है। उपर्युक्त निष्कर्ष के पीछे कारण यह है कि किसी विशिष्ट विधि का निर्वचन उसके अधिनियम के समय प्रचलित अर्थान्वयन के नियमों के अनुसार किया जाना चाहिए। अर्थान्वयन के नियमों में बाद में किए गए परिवर्तनों से पहले की अधिनियमितियां प्रभावित नहीं होनी चाहिए। भारत के विधि आयोग की 60वीं रिपोर्ट के पैरा 1.20 में कहा गया है।

"1.20 क्या एक या दो अधिनियम होने चाहिएं।

अधिनियमों के पुनरीक्षण के बारे अपनी विस्तृत सिफारिशें देने से पूर्व हम कुछ संसदीय प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक समझते हैं। ऐसा ही एक प्रश्न है कि प्रस्तावित परिवर्तनों का स्वरूप क्या होना चाहिए। मूल प्रश्न यह है कि क्या एक निर्वचन अधिनियम होना चाहिए या दो निर्वचन अधिनियम होने चाहिएं। इस प्रश्न का निश्चय करने की आवश्यकता इसलिए उत्पन्न होती है कि एक यह दृष्टिकोण रखा गया है कि वर्तमान साधारण खण्ड अधिनियम विद्यमान केन्द्रीय अधिनियमों आदि के निर्वचन के लिए एक नए चालू रहना चाहिए और यहां इसके पश्चात् केन्द्रीय अधिनियमों आदि के निर्वचन के लिए एक नए निर्वचन अधिनियम का प्रस्ताव किया जाना चाहिए।"

26 LJ&CA/05-7

विधि आयोग ने अपनी 60वीं रिपोर्ट के पैरा 1.21 में निम्नलिखित टिप्पणी है :—

"नि:संदेह, एक पूर्णतया नया निर्वचन अधिनियम (केवल भावी प्रभाव से) आरम्भ करने का लाभ होगा क्योंकि मूल परिवर्तन विद्यमान अधिनियमों आदि के लिए लागू नहीं होंगे। परन्तु वर्तमान अधिनियम में नए उपबंध समाविष्ट करने से भी पर्याप्त रूप से वही उद्देश्य पर्याप्त किया जा सकेगा, साथ ही इन नए उपबंधों को भविष्यलक्षी प्रभाव देना होगा। दो अधिनियम रखने के प्रस्ताव का कोई विशेष लाभ नहीं है।"

(बल दिया गया)

इसके पश्चात् विधि आयोग ने पैरा 1.22 में कहा है।

".....जहां तक अधिनियम में नए उपबंध अन्तर्विष्ट करने का संबंध है, यह सुनिश्चित करने के लिए सावधानी बरती जा रही है कि ऐसे उपबंध जिनसे कोई कठिनाई पैदा होने की संभावना है, उन्हें केवल भविष्यलक्षी प्रभाव दिया जाएगा।"

भारत के संविधान के अनुच्छेद 367 में यह व्यवस्था दी गई है कि जब तक संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो, संविधान के निर्वचन के लिए साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 उसी प्रकार से लागू होगा जैसेकि यह डोमिनियन ऑफ इन्डिया के विधानमंडल के अधिनियमों के निर्वचन के लिए लागू होता है। परन्तु यह अनुच्छेद 372 में किए जाने वाले किसी अनुकूलन या उपान्तर के अध्यधीन होगा। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 में किए गए किसी संशोधन से संविधान का निर्वचन भी प्रभावित होगा। इस प्रश्न का उत्तर विधि आयोग की 60वीं रिपोर्ट के पैरा 1.28 में दिया गया है, जिसका पाठ निम्नलिखित है :—

"साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 में किए गए किसी संशोधन, परिवर्धन अथवा लोप का संविधान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। संविधान के निर्वचन, (साधारण खण्ड अधिनियम से ही किया जाता रहेगा जैसेकि संविधान से तत्काल पूर्व प्रवर्तन में था (संविधान के अनुच्छेद 372 के अन्तर्गत किए गए अनुकूलनों के अध्ययधीन)। अधिनियम का इस प्रकार से निरसन या उपान्तरण नहीं किया जाएगा जिससे संविधान के निर्वचन पर कोई प्रभाव पड़े।"

आयोग ने पैरा 1.31 में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला है :

"इसलिए, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 के पुनरीक्षण या संशोधन से अनुच्छेद 367 के प्रवर्तन पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और साधारण खण्ड अधिनियम, जैसाकि यह 26 जनवरी, 1950 से तत्कालपूर्व विद्यमान था, (संविधान में किए गए अनुकूलनों के अधीन) प्रवर्तन में बना रहेगा।"

इस पृष्ठभूमि में, विधि आयोग ने अपनी 60वीं रिपोर्ट में नई धारा 3क और 29क के अन्त:स्थापित किए जाने का प्रस्ताव किया है जिनमें कहा गया है कि परिभाषा धारा तथा अधिनियमों के अर्थान्वयन के नियमों आदि में प्रस्तावित परिवर्तनों से विद्यमान केन्द्रीय विधियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और वे केवल भविष्य की अधिनियमितियों के लिए लागू होंगे।

विधि आयोग ने अपनी 60वीं रिपोर्ट में कुछ परिवर्तनों का सुझाव दिया है। आयोग ने पैरा 1.26 में कहा है कि रिपोर्ट में की गईं सिफारिशें बहुत अधिक और मूल नहीं हैं। उक्त अधिनियम के उपबंध किसी गम्भीर कठिनाई का कारण नहीं है जिससे अधिनियम में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता हो।

इसलिए, 60वीं रिपोर्ट में अन्तर्विष्ट सिफारिशों से किसी ऐसी अधिनियमिति के अर्थान्वयन पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा जो 60वीं रिपोर्ट में सुझाए गए संशोधनों के क्रियान्वयन की तिथि से पूर्व बनाई गई थी।

परिणाम यह है कि विधि आयोग की 60वीं रिपोर्ट में जिन परिवर्तनों का सुझाव दिया गया उनमें से अधिकांश केवल उन्हीं विधियों के लिए लागू होंगे जो प्रस्तावित संशोधनों के प्रभावी होने के पश्चात् अधिनियमित की गई हों, वर्तमान अधिनियमितियों के लिए नहीं। अत: आयोग 60वीं रिपोर्ट में अन्तर्विष्ट उपर्युक्त सिफारिशों की नए सिरे से पुनरीक्षा करना आवश्यक नहीं समझता है।

हम तद्नुसार सिफारिश करते हैं।

ह०

(न्यायमूर्ति एम० जगन्नाथ राव)

अध्यक्ष

ह०

(डा. एन.एम. घटाटे)

सदस्य

ह०

(टी० के० विश्वनाथन)

सदस्य-सचिव

दिनांक 01-11-2002

MGIPRRND—26 LJCA/05—75 Copies.

© Government of India
Controller of Publications

PLD.92.CLXXXIII (H)
75—2005 (DSK–IV)

Price : Inland : Rs. 880.00
Foreign : $ 19.06
£ 10.96

PRINTED BY THE MANAGER, GOVT. OF INDIA PRESS, RING ROAD, MAYAPURI, NEW DELHI-110064
AND PUBLISHED BY THE CONTROLLER OF PUBLICATIONS, DELHI-110054, 2006